प्रकरण - 1

मानव जीवन के चार दुर्लभ अंग

संसार का अर्थ है - जन्म मरण की परम्परा। जन्म से बुढापे तक की यात्रा का नाम जीवन है। जन्म जीवन का प्रारम्भ है, अंत नहीं। इस जन्म से पहले कितने जन्म हुए, कोई नहीं जानता भविष्य में कितने जन्म होंगे, इस बात को सवर्ज्ञ परमात्मा ही जानते हैं। जीवात्मा कर्म वंधन में फंसी अनंतकाल से जन्म-मरण की परम्परा में चक्कर काट रही है। कब जन्म मरण की कर्म परम्परा का अंत होगा, कब जीवात्मा अपने विशुद्ध स्वरूप सिद्ध अवस्था को प्राप्त करेगी, यह कथन सर्वज्ञ अरिहंतों के अतिरिक्त कोई नहीं जानता है। यह आत्मकर्मों से बंधा है। जीव कर्मों का कर्त्ता भोगता है। दुःख-सुख, स्वर्ग-नरक सब का कारण जीव के पूर्व कृत्य कर्म हैं। जीवन की यात्रा कर्म की यात्रा है। प्राचीन काल से ही मनुष्य के मन में दुःख-सुख का कारण जानने की इच्छा बलवती रही है।

विभिन्न धर्म के महापुरूषों ने प्राचीन काल से ही जन्म, मरण, आत्मा, परमात्मा, जीव, अजीव के संबंध में अपना चिंतन प्रदान किया है यह चिंतन ही जगत की उत्पति का कारण बना है। कोई भी चिंतन तब तक सत्य नहीं होता, जब तक उसे अनुभव की कसौटी पर परखा न जाए। यह चिंतन जब खरा उतरता है, तव यही शाश्वत सत्य कहलाता है। चिंतन को अनुभवी भूमिका से गुजरना पड़ता है। जब हम किसी सत्य को हर पक्ष से परखते हैं : तव वह बात आत्म ज्ञान बन जाती है। मेरे पास स्वयं को परखने की

कसौटी जैन धर्म का दर्शन है, जिसे भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक की तीर्थंकर परम्परा ने संसार के सामने प्रस्तुत किया। यह ज्ञान तीर्थंकरों ने लम्बे तप के माध्यम से प्राप्त किया।

जैन दर्शन ने सत्य की पहचान का मार्ग अनेकांतवाद का सिद्धांत है। जैन धर्म कभी एकांत सत्य या सत्यांश को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म में कदाग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है। अनेकांतवाद कहता है कि मैं जो कहता हूं, वह ही सत्य नहीं, बल्कि जो सत्य है वह मेरा है सत्य की यात्रा ज्ञान की यात्रा है। अहिंसा, संयम तप की यात्रा है। यह ज्ञान अरिहंत परमात्मा ने संसार के जीव को बांटा है। तीर्थंकर परम्परा का ज्ञान दो शब्दों में पूरा हो जाता है १. जीव २. अजीव।

सारा जैन तत्व साहित्य इन दो शब्दों की व्याख्या में समा जाता है। जीव चार प्रकार के होते हैं। १. देव २. मनुष्य ३. तिर्यंच ४. नारकी

जीव की अनेक जातीयों - भेद उपभेद शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। जीव का अर्थ खाली शरीरधारी जीव नहीं, उसका विशुद्ध अर्थ तो आत्मा है। जो व्यक्ति अरिहंतों के मार्ग पर चलता है वह सिद्ध मार्ग (मुक्त अवस्था) को प्राप्त कर लेता है।

अरिहंतों के मार्ग पर चल अरिहंत अवस्था प्राप्त की जा सकती है। अर्हत ही सिद्ध परमात्मा बनता है कर्म बंधन को मुक्त हो जन्म मरण की परम्परा को समाप्त करता है।

इसी परम्परा तीर्थंकर परम्परा के अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने जीव के कल्याण के लिए श्री उतराध्ययन सूत्र के अध्ययन को धर्म के चार दुर्लभ अंगों की व्याख्या की है जो इस प्रकार है :

१. मानव जन्म
२. सर्वज्ञों द्वारा कथित सत्य धर्म का श्रवण
३. सत्य धर्म पर आस्था
४. उस आर्य धर्म पर सिद्धांत के अनुसार चलना।

१. मानव जन्म :

श्रमण भगवान महावीर ने धर्म का प्रथम अंग की व्याख्या करते हुए कहते हैं "विभिन्न प्रकार के कर्मों का उपार्जन करके, विभिन्न गोत्र वाली जातियों मे उत्पन्न हो कर, पृथक पृथक रूप में प्रत्येक संसारी जीव समस्त विश्व में व्याप्त हो जाता है अर्थात जन्म लेता है।"

"जीव अपने अपने कृत अनुसार कभी देवरूप में, कभी इस लोक में, कभी नरक में, कभी असुरकाय में जन्म लेता है।"

"यह जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चण्डाल, कभी वर्णसंकर होता है, कभी कीट पतंग और कभी कुन्थु और कभी चींटी होता है।"

"जिस प्रकार क्षत्रिय लोग समस्त भोग उपभोग करने पर भी कभी विरक्ति को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार कर्मों से दूषित जीव अनादि काल से आवर्त स्वरूप योनियों से मुक्त नहीं होते।"

"कर्मों के संग दूखित और अत्यन्त वेदना से प्रकट जीव योनियों मे दुःख उठाते हैं।"

"कालचक्र से कभी कर्मों का क्षय हो जाने पर यह जीव आत्म शुद्धि प्राप्त करते हैं अर्थात् उस के पश्चात मनुष्यता प्राप्त होती है।"

"लोक में वालाग्र मात्र ऐसा प्रदेश नहीं, जहां इस जीव का जन्म मरण न हुआ।"

२.धर्म श्रवण :

"मनुष्यत्व प्राप्त करना कठिन है। यह जन्म प्राप्त हो भी जाए तो सत्य धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है। भगवान् फुरमाते हैं।

"मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी धर्म पालन के लिए योग्य परिस्थितियां दुर्लभ हैं इन में आर्य क्षेत्र परम दुर्लभ है। मनुष्य का जन्म ही जीवन का सार नहीं, धर्म पालन के लिए सच्चे देव (अरिहंत, सिद्ध) गुरू व धर्म का शरण कठिन है।"

इसलिए प्रभु महावीर आगे फुरमाते हैं :

"मनुष्य देह पा लेने पर भी धर्म का श्रवण (सुनना) परम दुर्लभ है जिसे सुन कर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को अंगिकार करता है।"

"इस का अर्थ यह है कि धर्म का सुनना परम दुर्लभ है यह आर्य देश की प्राप्ति का संपूर्ण अंगों की प्राप्ति से संभव है।"

सुनने को प्रभु महावीर ने "जीवन का दूसरा अंग स्वीकार किया है।" क्योंकि अगर आर्य क्षेत्र में मनुष्य का जन्म भी हो जाता है तो कोई विरला ही धर्म सुन पाता है। धर्म श्रवण का बहुत महत्त्व है यह मिथ्यात्व (अज्ञान) के अंधकार को दूर करता है। श्रद्धा रूप ज्योति का प्रकाशक है, जीव आजीव में भेद का विवेचक है, पुण्य और पाप का मार्ग दर्शक है। ऐसे श्रुत चारित्र रूप धर्म का श्रवण बड़े पुण्य से मिलता है। यह श्रवण धर्म है जिसे सुन कर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करता है। यह अमृतपान के समान, एकान्तहित विधायक और हृदय में आनंद देने वाला है। यह अमृत कलश में ज्ञान तत्व, षट द्रव्य, आठ कर्म, दस धर्म, पांच महाव्रत व पांच अणुव्रत से ज्ञान प्राप्त होता है।

३. श्रद्धा :

तीसरे दुर्लभ तत्व के रूप में प्रभु महावीर ने श्रद्धा को महान माना है। वह कहते हैं :

"कदाचित (कभी) धर्म का श्रवण भी हो जाए तो उस पर श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, क्योंकि बहुत से लोग नैयायिक मार्ग (रत्नत्रय) को छोड़कर भी उस से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि धर्म को सुनना ही काफी नहीं, धर्म पर श्रद्धा आना बहुत कठिन है। कई लोग धर्म सुन कर भी संशय रखते हैं। इसी तरह कई लोग धर्म को सुन कर कुछ समय के लिए जागृत होते हैं पर मिथ्यात्व के जहर के कारण उसी अज्ञान अवस्था में पड़ जाते हैं जहां से वह निकले थे। इस लिए व्यक्ति को तीन रत्न (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन व सम्यक् चरित्र) को धारण कर जीवन व्यतीत करना चाहिए, नहीं तो ऐसे हजारों उदाहरण पड़े है, जो मिथ्यात्व के कारण या धर्म के प्रति श्रद्धा के आभाव से इतिहास से मिट गये। जैन इतिहास में जैन सिद्धांत पर अश्रद्धा करने वाले को निन्हव कहा जाता है। जो संयमी होकर भी भटके उन निन्हवों में ६ प्रमुख नाम हैं : १. जमालि २. तिष्यगुप्त ३. आषाढ़भूति ४. अश्वमित्र ५. गंगाचार्य ६. रोहगुप्त ७. गोष्टमाहिल। यह लोग धर्म को जानकर भी संशय में फंस गये। इसी कारण यह मिथ्यात्वी (अज्ञानी) कहलाए। जैन इतिहास में सम्यक्त्व से मोक्ष का कारण माना गया है। सम्यक्त्व के लिए सच्चे देव (अरिहंत-सिद्ध) गुरू व धर्म का स्वरूप जानकर उन पर सच्ची श्रद्धा आना परम आवश्यक है। सम्यक्त्वी हमेशा प्रकाश में रहता है मिथ्यात्वी अंधेरा में जीता व मरता है। मिथ्यात्वी अपना लोक-परलोक मिथ्यात्व के कारण विगड़ाता

है।

४. वीर्य :

प्रभु महावीर ने धर्म पर चलने के लिए जो अंतिम सिद्धांत फुरमाया है उसी का नाम संयम के प्रति वीर्य (शक्ति) है वह फुरमाते हैं :

"धर्म श्रवण (श्रुति और श्रद्धा प्राप्त) करके भी संयम में वीर्य (शक्ति) लगाना दुलर्भ है। वहुत से व्यक्ति संयम में अभिव्यक्ति रखते हुए भी सम्यक्त्व ग्रहण नहीं कर पाते"

कई लोग धर्म के तीनों अंग प्राप्त होने पर भी संयम के प्रति रूचि नहीं रखते। उस के कारण मिथ्यात्व के उदय से वह संयम ग्रहण नहीं कर सकते। उन्हें अमृत भी जहर लगता है। वह लोग साधु को असाधु समझते हैं, धर्म को अधर्म समझते हैं। पुण्य को पाप समझते हैं। ऐसे लोग जीवन में सत्य धर्म को नहीं पा सकते। सारी आयु मिथ्यात्व के अंधकार में भटकते रहते हैं। इन्हीं कारणों के कारण प्रभु महावीर को इन्ही तत्वों को परम दुर्लभ बताना पड़ा।

इस में यह वात भी सिद्ध होती है कि जीवन में राष्ट्र, धर्म, कुल, संयम का कितना महत्त्व है संसार में कई देश ऐसे हैं जहां सभ्य समाज नहीं, धर्म नहीं, परिवार नहीं। मात्र परम्पराएं हैं।

२

जीवन में त्रि-रत्न का महत्त्व

सम्यक्दर्शन :

सम्यक्दर्शन के प्रभाव से भावनाओं में जो निर्मलता आती है और संसार, शरीर और भोगों से जो वैराग्य उत्पन्न होता है, उससे व्यक्ति गृहस्थी में रहकर भी

उसी प्रकार अछूता रहता है, जिस प्रकार कमल जल से, वेश्या अपने ग्राहकों से और सोना कीचड़ से। चक्रवर्ती सम्राट भरत अपने महामात्य से कहते हैं "मैं धन को तिनके के समान गिनता हूं, मैं उसे नहीं लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेम का भूखा हूं और इसी से तुम्हारे महल में हूं"। एक ही क्रिया का फल मिलेगा उसमें बुनियादी अन्तर होगा क्योंकि उस क्रिया की कर्त्तव्यता या अकर्त्तव्यता को सम्यक्दृष्टि व्यवहार से स्वीकार करता है जबकि मिथ्यादृष्टि उसे सिद्धांत से भी स्वीकार नहीं करता।

सम्यक्दर्शन एक अष्टांग अनुभूति है। इस अनुभूति के फलस्वरूप सम्यक्दृष्टि जीव जिन वचन में शंका नहीं करता, संसारिक सुखों की आकांक्षा नहीं रखता, साधुओं के मलिन शरीर आदि को देखकर घृणा नहीं करता, कुमार्ग और कुमार्गस्थों से लगाव नहीं रखता, अपने गुणों और दूसरे के दुर्गुणों की अव्यक्त रहने देकर अपने धर्म को निन्दा से बचाता है, वासनाओं आदि के कारण अपने धर्म से विचलित होने वाले को स्थिर करता है, सह-धर्मियों से उसी प्रकार प्रेम करता है जिस प्रकार गाय बछड़े से करती है, और विभिन्न प्रकार के आयोजनों से जैन धर्म की प्रभावना करता है। इन आठ में से एक भी अंग की न्यून्ता होने पर सम्यक्दर्शन उसी प्रकार प्रभावहीन होता है जिस प्रकार एक भी अक्षर की न्यूनता से कोई मन्त्र विष की वेदना के निवारण में असमर्थ रहता है।

सम्यक्दृष्टि के लौकिक व्यवहार में परीक्षा प्रधानता स्वयं आ जाती है। नदी, समुद्र आदि में स्नान, वालू, पत्थर आदि का ढेर लगाना, पर्वत से कूद पड़ना, अग्नि में जल मरना आदि जो विवेकहीन क्रियाएं धार्मिक क्रियाओं के रूप में प्रचलित हो उन्हें वह कदापि नहीं करता।

सम्यक्दृष्टि जीव वरदान अथवा किसी सुख सुविधा की आकांक्षा से देव-देवियों की उपासना नहीं करता क्योंकि वे राग द्वेष से अतीत नहीं होते।

आरम्भ, परिग्रह, हिंसा आदि में पड़कर संसारिक चक्र में उलझे तथाकथित साधुओं को मान्यता नहीं देता। निरभिमानी अवश्य होता है अपने ज्ञान, आदर, सम्मान, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप और शरीर की कितनी भी श्रेष्ठता रहे, वह नम्र ही रहता है क्योंकि वह अनुभव करता है कि अभिमान में आकर जो व्यक्ति अन्य धर्मावलंवियों का तिरस्कार करता है, वह अपने ही धर्म का उल्लंघन करता है।

सम्यक्दर्शन जीव की आन्तरिक और वाह्य क्रियाओं में एक ऐसा मोड़ लाता है कि वह आत्म-वाह्य पदार्थों से इतना निर्लिप्त हो जाता है कि चरित्र के लेशमात्र न रहते हुए भी वह मोक्षमार्गी माना जाता है जबकि आत्म-वाह्य पदार्थों में लिप्त होने वाला साधु भी अपने सम्पूर्ण चारित्र के रहते हुए भी मोक्षमार्गी नहीं माना जा सकता।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि समयक्दर्शन अपने आन्तरिक और वाह्य दोनों रूपों में जीवन मूल्यों को प्रत्यक्ष पोषण देता है। कहा तो यह भी जा सकता है कि वह इनका उद्गम ही है। ज्ञान और चरित्र तभी सम्यक् होते हैं जव वे सम्यक्दर्शन पूर्वक हों। इसका अर्थ यह हुआ कि जनसाधारण के भी व्यवहार में मूल्यों का समावेश सम्यक्दर्शन के सद्भाव से ही सम्भव है।

सम्यग्दर्शन से जिन मनोंभावों और वाह्य व्यवहार की निष्पति होती है, वे सभी किसी भी सम्भ्रान्त नागरिक के लिए आदर्श होने चाहिए। अन्य सम्पूर्ण जैन साहित्य की ही भांति सम्यक्दर्शन को वही स्थान प्राप्त है जो शरीर में आत्मा का

है। इसका पृथक् वर्णन या उल्लेख सर्वत्र न भी हुआ हो पर इसके अमृत से ही जैन साहित्य का रसायन सिद्ध हुआ है।

सम्यक्ज्ञान :

जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में ऐसा ज्ञान सम्यक्ज्ञान है जो न कम हो न अतिरिक्त, न विपरीत हो न संदिग्ध। जैन न्याय में प्रमाण की परिभाषा ही सम्यक्ज्ञान के रूप में दी गयी है। ज्ञान का विषय वस्तुतः केवल मात्र स्वात्मा ही है, जिसे अपने आत्मा का ज्ञान है उसे तीनों लोकों के तीनों कालों के सभी द्रव्यों के प्रत्येक गुण और प्रत्येक पर्याय का ज्ञान होता है। इस गूढ़ किन्तु तर्कसंगत व्याख्या का एक व्यवाहारिक पक्ष भी है। आत्म-द्रव्य स्वभाव से इतना निर्मल है कि जब वह पूर्णतया निष्कर्ष हो जाता है तव उसमें तीनों लोकों का कण कण दर्पणवत् प्रतिबिम्बत होने लगता है। यह प्रतिबिम्बन ही ज्ञान की व्यापकता का सूचक है, अन्यथा वह इतना आत्म-केनद्रित है कि एक ज्ञानवान्, स्वात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है यह कह कर भी यथार्थ रह सकता है।

सम्यक्ज्ञानी का व्यवहार भी सम्यक् ही होता है। चाहे उसमें आलोकिक या अतिरिक्त तत्व न हों। सम्यक्ज्ञान चूंकि सम्यक्दर्शन पूर्वक ही होता है अतः एक सम्यक्ज्ञानी उत्कृष्ट कोटि का विवेकशील होता है। विवेक ही वह वस्तु है जो उसके व्यवहार को सम्यक् और असाधारण वनाती है किसी भी क्रिया की कर्तव्यता या अकर्तव्यता का निर्धारण इसी विवेक या भेद-विज्ञान के द्वारा होता है। खरे और खोटे में अन्तर भी विवेक से ही संभव है। करोडों वर्ष तप करके भी जो सफलता न मिल सके वह एक ज्ञानी पुरूष अपने विवेकपूर्ण प्रयोग से क्षण भर में प्राप्त कर सकता है। सांसारिक व्यवहार में समान रूप से उलझा एक मिथ्याज्ञानी

अनन्त काल तक जन्म-जन्मांतर में भटकता रहेगा, जबकि एक सम्यक्ज्ञानी यथाशीघ्र मुक्त होगा क्योंकि वह निरन्तर अनुभव करता है कि उसे जो भी उचित-अनुचित करना पड़ सकता है वह उसके पूर्वोपार्जित कर्मों का प्रतिफल है अन्यथा वह इस सबसे स्वभावतः अतीत ही है।

यही कारण है कि विषम परिस्थितियों में एक मिथ्याज्ञानी वेदना, क्रोध आदि की अनुभूति करता है जबकि सम्यक्दृष्टि तटस्थ और निर्विकार बना रहता है। ज्ञान महाफल का यही तो है कि विषम परिस्थियों में भी या प्राणी ऐसी चेष्टाएं और विचार न करें जिनसे न कर्म बंधे और उसे अनन्त जन्मों में भटकना पड़े।

सम्यक्चारित्र :

स्वरूप के श्रद्धान से बाह्य वस्तुओं से मोह टूटता है, स्वरूप के ज्ञान से बाह्य वस्तुओं की अनावश्यकता निश्चित होती है, और इसीलिए पर रूप के प्रति स्वरूप का रागद्वेष छूटता है। रागद्वेष का यह छूटना ही सम्यक्चारित्र है राग और द्वेष दोनों ही शब्द सापेक्ष शब्द है क्योंकि संसार की सभी वस्तुओं से राग ही राग संभव नहीं और द्वेष ही द्वेष भी संभव नहीं। कहा जा सकता है कि जिन वस्तुओं से द्वेष न होकर मध्यस्थता हो सकती है, अतः राग को द्वेष की भांति त्याज्य नहीं ठहराया जाना चाहिए। उत्तर होगा कि द्वेष की भांति राग भी एक विकार या वैभाविक परिणति हैं क्योंकि उसके कारण भी दृष्टि स्वरूप से हटकर पर रूप पर जा टिकती है। राग और द्वेष ही समान रूप से, स्वरूप में पर रूप के कर्तृत्व का या पर रूप में स्वरूप के कर्तृव्य का आरोप करते हैं।

आत्मा केवल ज्ञाता और दृष्टा ही है, और यदि कर्ता है भी व सर्वथा अपना ही पर का कदापि नहीं। यह सिद्धांत

ही राग और द्वेष को एक ही श्रेणि में लाता है। इस सिद्धांत पर दृढ़ रहता कोई व्यक्ति दया, दान परोपकार आदि पुण्य कार्य कर सकेगा या नहीं यह प्रश्न स्वभाविक है। उत्तर होगा कि यद्यपि निश्चय चारित्र के अर्न्तगत आत्मा की जो आलौकिक अवस्था होती है उसमें पुण्य कार्यों का, पाप कार्यों की भांति, विकल्प ही नहीं उठता तथापि व्यवहार के अन्तंगत पाप से निवृति और पुण्य में प्रवृति का ही विधान है। पाप अर्थात् हिंसा आदि अशुभ से निवृति और पुण्य अर्थात् दया आदि शुभ में प्रवृति, ये दोनों ही ऐसे साधन है जिनका साध्य है शुद्ध अर्थात् धर्म इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहार चारित्र यदि साधन हैं तो निश्चय चारित्र उसका साध्य है। सम्यक् चारित्र के निश्चय और व्यवहार के रूप में दो भेद किये जाने से यह प्रतिफल होता है कि सभी प्रकार की चारित्रिक क्रियाओं के दो दो रूप होते हैं। सम्यग्दर्शन पूर्वक होने वाली किसी भी क्रिया के दृश्य रूप को व्यवहार चारित्र और उस क्रिया से होने वाली आत्मानुभूति को निश्चय चारित्र कहा जा सकता है इससे स्पष्ट है कि चारित्र के व्यवहारिक पक्ष अर्थात् दया, दान, परोपकार आदि का विकल्प तभी होता है जब तक आत्मानुभूति रूप निश्चय चारित्र अपनी पूर्णता प्राप्त नहीं कर लेता। चारित्र शब्द, विशेषतया जैनाचार में इतना व्यापक है कि इसका प्रयोग विभिन्न अवसरों पर और विभिन्न उपेक्षाओं से किया गया है। उत्तम क्षमा, मृदुता सरलता, अलोभ, सत्य, अलोम, संयम, तप, त्याग, आकिंचण्य, और ब्रह्मचर्य, नामक दस धर्मों को चारित्र कहा जा सकता है, तथापि सामायिक आदि के रूप में पांच प्रकार के चारित्र के भी विधान है क्योंकि वह मोक्ष प्राप्ति में साक्षात् कारण है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में प्रवृत्ति सम्यक्चारित्र है। इसके दो

भेद हैं : साधु और उपासक। साधु इन पांचों को महाव्रतों के रूप में ग्रहण करता है जबकि उपासक के व्रतों को अणुव्रत कहा जाता है।

३

मेरा सौभाग्य

प्रभु महावीर की कृपा से मेरा जन्म जिस परिवार में हुआ वहां धर्म के चारों दुलर्भ अंग प्राप्त थे। सर्व प्रथम मुझे धर्म का दुलर्भ अंग मनुष्य जन्म मिला। संसार में जिस जन्म को देव तक तरसते हैं। संसार में वैसे तो ८४ लाख योनियां मानी जाती हैं पर सर्व श्रेष्ट योनि मनुष्य की मानी जाती है। जैन धर्म में चार योनियां प्रमुख मानी जाती हैं : १. मनुष्य २. पशु ३. नरक ४. देव

इसी योनि में मनुष्य चाहे तो आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा शुरू कर सकता है अगर अशुभ कर्मोदय हो तो नरक का द्वार खोल सकता है। अगर शुभ कर्म करे तो देव वन सकता है अशुभ कर्म करे तो दानव। इसी योनि में मनुष्य धर्म के चार अंग दान, शील, तप व भावना का पालन कर सकता है, अगर नीचे गिरे तो वासना, इच्छाओं व तृष्णाओं का कीड़ा वनकर भटक सकता है। यह मनुष्य श्रेष्ठ योनि है जिसे देव, देवीयां नमस्कार करते हैं इस भव में ही मनुष्य महाव्रत, समिति, गुप्ति, का पालन कर मुनि वन सकता है। चाहे संसार में रहकर धर्म पालन कर सकता है। हमारे सामने श्रावक आनंद जैसे दसों श्रावकों का वर्णन है जिन्हें संसार की हर वस्तु सुख उपलब्ध थी जिन्होने प्रभु महावीर से श्रज्ञवक के अणुव्रत धारण किए और देव लोक को प्राप्त किया। प्रभु महावीर ने स्पष्ट उदघोष श्री दशवें

कालिक सूत्र में प्रथम अध्ययन में किया।

धर्म उतकृष्ट मंगल है, धर्म वही है, जिस लक्षण का अहिंसा, संयम व तप है। ऐसे धर्म का जो पालन करते हैं, उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं। मुझे निरोग शरीर व इन्द्रीयां मिली हैं। सुनने, समझने व देखने की शक्ति मिली है। इस जीवन के प्रमुख चार दुर्लभ अंग प्राप्त हुए है। वैसे यह कहा जाता है कि स्वास्थ्य शरीर में ही शुद्ध धर्म ठहरता है।

'मुझे वीतराग अरिहंतों, तीर्थंकरों द्वारा कथित धर्म सुनने को मिला है ऐसा धर्म सुनना पिछले जन्मों के शुभ कर्म का सुफल है।' नहीं तो व्यक्ति का मन धर्म के प्रति आकर्षित नहीं होता। आज जब मैं यह शब्द लिख रहा हूं तो जीवन की आधी सदी से ज्यादा का सफर तय कर चुका हूं। मैं विभिन्न आचार्यों, उपाध्यायों, साधुओं, साध्वीओं व अन्य शास्त्रीय पदवी धारी जैन संतों को मिला है। सभी का आर्शीवाद व सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है। सभी के प्रवचन मैने सुने है और इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि प्रभु वीतराग की वात का कथन जो भी करेगा स्वयं वीतराग हो जाएगा। प्रभु की वाणी अमृतमय है। इस में देश, काल, आयु, लिंग, जात-पात, छुआछूत का भेद नहीं हैं । प्रभु जहां प्रवचन करते हैं वहां पशु, मानव, स्त्री, देव व देवीयां परस्पर प्रेम से वैठकर सुनते हैं और अपना परम्परागत वैर भूल जाते हैं। इसी लिए उस स्थान को जैन परिभाषा में 'समोसरण' कहते हैं। समोसरण की महिमा अनुपम व अकथनीय है। प्रभु के अष्टप्रतिहार्य, अतिशय यहां घटित होता है। प्रभु अर्ध मागध ाी प्राकृत में उपदेश करते हैं।

प्रभु महावीर की तीसरी दुर्लभ वात भी मुझे बहुत आर्किषत करती है। यह वात बहुत ही दुर्लभ कही जा सकती

है, क्योंकि हम धर्म तो कई बार करते हैं, धर्म की वातें सुनते हैं, अनेक बातों को सत्य भी मानते हैं, पर हमारी इन पर श्रद्धा नहीं बनती। हमेशा संशय बना रहता है और श्री कृष्ण के शब्दों में "संशयवान आत्मा विनाश को प्राप्त करती है। यह विनाश ही मिथ्यात्व है अगर श्रद्धा नहीं वनती तो चित भटकता रहता है। आज अधिकांश स्त्री पुरूषों की हालत ऐसी है। हर एक व्रह्मज्ञानी कहलाना चाहता है। हर कोई कहता है कि उस के पास अंतिम परम सत्य है। पर मैं प्रभु महावीर की भाषा में कहूं तो इतना ही पर्याप्त है कि कुछ भी अंतिम सत्य नहीं है। यहां तक जन्म भी अंतिम सत्य नहीं, मरण भी अंतिम सत्य नहीं। क्योंकि इस जन्म से पहले हमारे कितने जन्म कहां कहां हुए, कोई नहीं जानता। यह मरण भी जीवन का अंत नहीं। इस से पहले भी हम हर जन्म में मरे हैं, मर कर पुनः जन्में हैं। यहां तक ऐकेन्द्रीय व निगोध अवस्था में तो जन्मों की गणना ही नहीं की जा सकती। नरक स्वर्ग में दीर्घ समय तक रहे, यह भी कथन से वाहर है। कितने वार निगोद अवस्था के जीव वने। तीर्थंकरों से ईलावा कोई नहीं जानता।

इन वातों को ध्यान में रख कर हमें केवली कथित ध र्म के अनुसार चलना चाहिए। उस पर यथा रूप श्रद्धा करनी चाहिए। मिथ्यावादियों के चमत्कार देख कर संतुलन खोना नहीं चाहिए। हमें सम्यक्त्व पर पूर्ण रूप से श्रद्धा रखते हुए देव, गुरू व धर्म को उनके गुणों अनुसार श्रद्धा करनी चाहिए। इस श्रद्धा से मिथ्यात्व का उवड़-खावड़ रास्ता साफ हो जाएगा। सम्यक्त्व का साफ रास्ता प्रशस्त होगा।

जैन धर्म में सम्यक्त्व पर श्रद्धा ही जैन धर्म की प्रथम पहचान है। अंधेरे से प्रकाश की ओर यात्रा का प्रथम कदम सम्यक्त्व है। हमारे सम्यकत्व की और श्रृद्धा वढ़ाने में हमारे

वीतराग प्रभु, पांच महाव्रत धारी साधु सवर्ज्ञ कथित धर्म प्रमुख सहायक हैं। श्री कृष्ण की श्रद्धा की वात की और किसी का ध्यान नहीं। लोग महापुरूषों के कथन को क्यों भूलाते हैं ? पता नहीं । संसार में उन्हें भटकना क्यों पसंद है ? धर्म वही परम सत्य है जो सम्यकूत्व में सहायक हो, सम्यकत्व वढाए, वह अन्य शास्त्रों से मिले, पूज्यनीय हो। ध र्म का आधार श्रद्धा है, प्राण श्रृद्धा है, आत्मा श्रद्धा है। श्रद्धा विहीन धर्म अधर्म है। श्रद्धा रहित किया गया अच्छा काम भी पाप का कारण वन जाता है। श्रद्धा में प्रमुख तत्व ज्ञान ही है। ज्ञान रहित श्रद्धा को लोग अंधश्रद्धा कहते हैं। हमें इसे अंधेरे से बचाने के लिए प्रभु महावीर ने श्रद्धा को धर्म के ४ दुर्लभ अंगों में स्थान दिया है।

श्रद्धा धर्म की माता है, पिता है, मित्र है। धर्म के इस तत्व की यात्रा के वाद हमारी यात्रा शुरू होती है। श्रद्धा के कारण ही गुरू की प्राप्ति होती है। गुरू की श्रद्धा हमें ध र्म की पहचान करवाती है। इसी लिए नवकार मंत्र में सर्व प्रथम अरिहंत भगवान को नमस्कार किया गया है। इस के वाद सिद्ध परमात्मा को। चाहिए पहले सिद्धों को नमस्कार करना था। परन्तु गुरू ही हमें सिद्ध भगवान् का स्वरूप वतलाते हैं इसी कारण उन्हें पहले प्रणाम किया गया है।

धर्म का अंतिम व परम दुर्लभ तत्व ७ सुने धर्म पर चलना। मनुष्य जन्म तो कर्म के अनुसार मिल जाता है। आर्य देश में जन्म होने के कारण सवर्ज्ञ कथित धर्म सुनने को भी मिल गया है। फिर शुभ कर्मों के उदय से धर्म के प्रति श्रद्धा भी हो गई है। फिर भी उस धर्म कर चलना परम दुलंभ है। इस का कारण मिथ्यात्वी लोग हैं, जो चमत्कार को नमस्कार करते है। सम्यकत्व पर दृढ़ रहना वहुत मुश्किल है। हजारों साल के तपस्वी की एक क्षण के मिथ्यात्व के

कारण भक्ति समाप्त हो जाती है। जैन इतिहास में हजारों साधक ऐसे आये, जो आये तो सिंह वृति की तरह, पर गए श्रृंगाल की तरह। इस की उदाहरण में हमें पीछे कुछ नाम दे आये हैं। इन मिथ्यात्वी लोगों के भक्तों की संख्या भगवान महावीर के भक्तों से ज्यादा थी। इन में चार्वाक का, उदाहरण हमारे सामने है। जो कहता था कि "मानव जन्म वार वार नहीं मिलता, जो कुछ खाना-पीना है अभी कर लो, कल को तो तुम मिट्टी में मिल जाओगे। फिर कहां संसार आगमन होगा। आप तो धरती में मिल जाओगे।"

भगवान महावीर के समय ३६३ पाखण्डी मतों का वर्णन मिलता है। जिन को प्रभु महावीर ने अनेकांतवाद के सिद्धांत के साथ एक करने का प्रयत्न किया। महात्मा बुद्ध के जीवन में ६३ मतों का वर्णन मिलता है। इतनी दार्शनिक विचारधाराओं की सामना अनेकांत के सिद्धांत विना संभव नहीं था। वाकी सम्यकूत्व जब मिथ्यात्व की ओर बढ़ता है तो उस की पूर्व श्रद्धा का सिंहासन डोलता प्रतीत होता है। पर अगर सद्गुरू की संगत मिल जाए, मिथ्यात्व समाप्त हो जाता है। संसार में अधिकांश जीव मिथ्यात्व में फंसे हैं, उन्हें निकालने के लिए ही हमारे शास्त्र है।

सम्यकूत्व के आदर्श :

श्री उपासक दशांग सूत्र में कुण्डकोलिक श्रावक का वर्णन है। जिसे एक मिथ्यात्वी दैव ने धर्म मार्ग से गिराने के लिए आया था। उसने देव माया से उस के पुत्र के सात टुकड़े कर दिए। उस के मास को तला, लहू के छींटे मारे। फिर उस देव ने माता-पिता को मारने की धमकी दी। कुण्डकोलिक ने उस देव को पकड़ने की चेष्टा की। पर उस के हाथ में खम्बा आया। माता ने उन्हें पुनः धर्म में स्थिर किया। यह कुछ समय का अज्ञान था। जिस का

कारण मोह था। माता के सहयोग से वह पुनः धर्म में स्थिर हुआ।

यह श्रद्धा की कहानीयां हैं प्रभु महावीर के एक विदेशी साधक आद्रक कुमार के जीवन में कुछ समय अज्ञान की अवस्था आई। यहां तक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव के पुत्र भगवान वाहुवलि ने जब यह सोचा कि जिस धरती पर मैं खड़ा हूं वह धरा मेरे भ्राता भरत की है। तो मन में अज्ञान उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के वीच सिद्धांतों की भेद रेखा खींचने वाले अनेकों प्रमाणों व कथाओं से जैन ग्रंथ भरे पड़े हैं। इनमें से एक प्रसिद्ध कथा 'ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र' में मिलती है जो काफी ज्ञानवर्धक है।

"किसी नगर में दो मित्र रहते थे। एक वार वह वन में घूम रहे थे। उन्हें मयूरी के दो अण्डे प्राप्त हुए। दोनों मित्रों ने उन अण्डों को उठाया। वह सोचने लगे कि इन अण्डों को गर्मी देने से इनमें से सुन्दर वच्चे प्राप्त होंगे। दोनों घर आए। पहले मित्र ने उन अण्डों को पक्षीयों के झुण्ड में रख दिया। दूसरे मित्र का स्वभाव पहले मित्र से विपरीत था। वह शंकालु स्वभाव का था। वह हर रोज अण्डे को उठाता, फिर उसे हिला कर देखता कि उस में वच्चा है या नहीं।

समय वीता। जिस मित्र ने अण्डे को योग्य गर्मी पहुचाने के स्थान पर रखा था उसे उस की इच्छा का सुन्दर फल मिला। उसके यहां एक सुन्दर मयूर पैदा हुआ जो घर की छत की शोभा वना। मयूर आकर्षण का केन्द्र वना।

दूसरा मित्र जो अण्डा हिला कर देखता था, उसका अण्डा एक दिन टूट गया। इस के अविश्वास के कारण उसे कुछ प्राप्त नहीं हुआ।"

भगवान महावीर इन कथाओ को वताने के वाद फुरमाते हैं "सम्यकत्वी पहले मित्र की भांति श्रद्धा भाव होता

है। उस श्रद्धा से वह धर्म रूपी सुन्दर लक्षण वालों सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, जो मोक्ष व सद्गति को प्राप्त करता है। इस के विपरीत मिथ्यात्वी जीव जो शंका के कारण ना तो स्वयं कुछ प्राप्त कर सकता है न उस का जीवन धर्म के प्रति जागरूक हो सकता है। ऐसा श्रद्धाहीन व्यक्ति की आस्था कहीं नहीं टिकती। वह मिथ्यात्व के कारण संसार समुद्र में भटकता रहता है।

४

वर्तमान पंजाब की ग्रामीण संस्कृति

भारत वर्ष प्राचीन काल से ही गांवों का देश कहलाता है। आज भी देश की अधिकांश जनसंख्या गांवों में रहती है। गांवों में प्रमुख धंधा कृषि है। दूसरे घरेलू काम काज भी इस काम के अंग हैं। जिस क्षेत्र में हम रहते हैं इसे वेदिक ऋषियों ने आर्यवर्त देश कहते थे। आर्यवर्त में सप्तसिन्धू प्रदेश पडता था जिस में सारा पाकिस्तान, पंजाव, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, अफगानिस्तान, राजस्थान व कुछ भाग जम्मू व कश्मीर का क्षेत्र पडता था। इस में सात नदीयां वहती थी। समय वीता सिन्धू देश अलग माना जाने लगा। वाकी प्रदेश का नाम पंचनद देश पडा। मुसलमानों ने इसी पंचनद को पंजाव का नाम दिया। सिन्धूस्थान को हिन्दूस्तान नाम मिला। वैदिक काल से लेकर आज तक पंचनद देश के गांवों का जीवन प्राचीन काल जैसा है। एक नजर देखने से लगता है कि हजारों वर्ष के आक्रमण भी इस सभ्यता पर कुछ असर नहीं डाल सके। विभिन्न धर्मों, समुदायों में वंटे लोग फिर मानिसक वृति से धार्मिक हैं। आधुनिक सभ्यता, जिसे हम पश्चिम की सभ्यता कहते हैं इसका प्रभाव गांवों में आया जरूर है पर गांवों पर कोई विशेष असर नहीं छोड सका। प्राचीन सभ्यता से गांवों को इकाई माना जाता है।

हमारे गांव सभ्यता व संस्कृति का जीवन रखने में मुख्य भूमिका निभाते हैं। इन्हीं कारणों से चौधरी परिवार ग्रामों में निक्षपक्ष परिवार माना जाता है। इस कारण उन्हें परिवार में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। हमारा परिवार गांवों में चौधरी परिवार था। मेरे वावा श्री नाथ राम की लोग

बहुत कदर करते थे। उपने निजी मामलों में वे उनकी राय लेते थे।

हमारे पुरखे व मेरा जन्म स्थल :

मैने सुना है कि हमारे पुरखे पीछे से रामपुर (मलौद) से आये थे। हमारा एक बुजुर्ग अपने ननिहाल कुनरा आया। फिर यहीं बस गया। हम कुनरा वाले कहलाने लगे। यह गांव संगरूर - बरनाला रोड पर २ किलोमीटर की दूरी पर सडक से हट कर है। शहरी सभ्यता के प्रभाव से हमारा गावं काफी बचा हुआ है। इसी गांव में मेरे बाबा श्री नाथ मल जी व दादी दुर्गा देवी रहते थे। उन के दो सपुत्रों में मेरे पिता श्री स्वरूप चन्द जैन छोटे हैं। हमारा गांव सभ्यता संस्कृति व परम्पराओं का जीता जागता प्रमाण है। गांव मुख्य मार्ग पर होने के कारण जैन साधुओं का आगमन रहता है। लोग सब धर्म का आदर करते हैं। इसी कारण गावों में मन्दिर, गुरूद्वारा व डेरा है। गांव का वातावरण शांत है। भूमि उपजाउ है। सरलता के दर्शन हर स्थान पर हैं।

इस गांव के प्रमुख मेरा बाबा रहे। उन्होनें जीवन में अंतिम क्षणों में भी इस गांव में बिताए। हालांकि उनका समस्त परिवार के लोग धूरी आ गए थे। पर उन्होंने गांव व गांव वासियों को नहीं छोडा। मेरे बाबा सहज रूप से जैन साधूओं का बहुत सन्मान देते थे। उन्हें सच्चे साधू मानते थे। उनका दिखाया रास्ता आज भी हमारे परिवार के लिए आदर्श है। उनका कठिन अनुशासन व प्यार दोनों एक साथ अपनी संतान को मिले। उनके संस्कार आज भी हमारे परिवार में सहज प्राप्त होते हैं। इसी संस्कार युक्त परिवार में मेरा जन्म १० नवंबर १९४६ को माता लक्ष्मी देवी जैन व पिता श्री स्वरूप चन्द जैन के यहां पक्की गली धूरी (पंजाब) में हुआ। मैं अपने माता-पिता की तृतीय संतान हूं। मेरे से